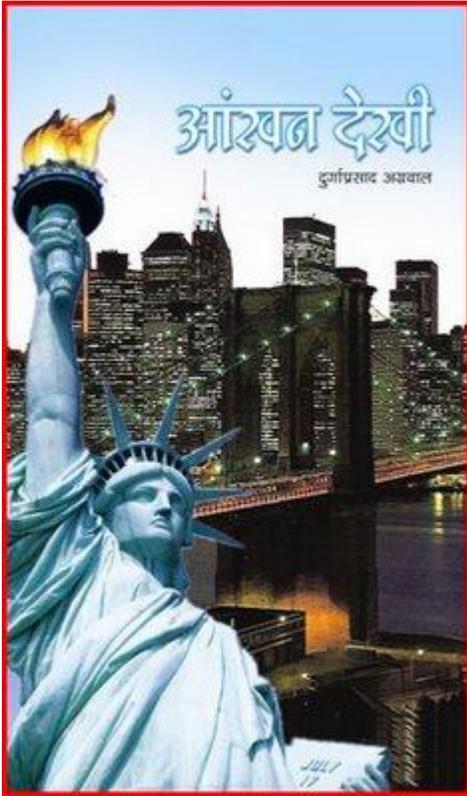


कॉपीराइट @ डॉ. दुर्गाप्रसाद अग्रवाल. पीडीएफ़ ई-बुक
इंटरनेट की पत्रिका रचनाकार :

(<http://rachanakar.blogspot.com>) में धारावाहिक रूप में
पूर्व-प्रकाशित. पठन-पाठन हेतु मुफ्त उपयोग व वितरण के
लिए जारी.

आंखन देखी (अमरीका मेरी निगाहों से)



यात्रा वृत्तांत

- डॉ. दुर्गाप्रसाद अग्रवाल



[नव्या,

आस्था,

आरोह

और उनकी पूरी पीढ़ी को]

अनुक्रम

- 1 परदेस में निकला चांद
- 2 हैप्पी बर्थ डे टू यू
- 3 जिन्दगी, मेरे घर आना, जिन्दगी
- 4 खूबसूरती का कारोबार
- 5 कहो जी तुम क्या क्या खरीदोगे
- 6 माइकल मूर: असहमति में उठा हाथ
- 7 पूंजीवाद के देश में समाजवाद की घुसपैठ
- 8 अमरीका में अखबार
- 9 एक शहीद दिवस अमरीका में भी
- 10 स्वाधीनता का उल्लास
- 11 एक पुस्तकालय के भीतर
- 12 रोगी की दशा उत्तम है
- 13 जिन्दगी के साथ भी...

- 14 [जिन वेगस नहीं देख्या](#)
- 15 [जिन्दगी एक सफर है सुहाना](#)
- 16 [यही सच है](#)
- 17 [पढोगे लिखोगे तो...](#)
- 18 [उच्च शिक्षा: यहाँ और वहाँ](#)
- 19 [जोडने वाला पुल](#)
- 20 [सोन मछली](#)
- 21 [यात्रा के बाद](#)

सुपरिचित साहित्यकार डॉ दुर्गाप्रसाद अग्रवाल की यह कृति "आंखन देखी" महज एक यात्रा वृत्तांत नहीं है.

यद्यपि इस पुस्तक में डॉ अग्रवाल ने अपनी अमरीका यात्रा के विविध अनुभवों को शब्दबद्ध किया है, पर यह कई कारणों से एक अनूठी साहित्यिक कृति बन गई है. डॉ अग्रवाल ने विश्व के अग्रणी पूंजीवादी देश अमरीका को खुली आंखों और बिना पूर्वाग्रहों के तो देखा ही है और उसकी उन्मुक्त सराहना भी की है, किंतु इसे उनकी अतिरिक्त सम्वेदनशीलता और वैचारिक प्रतिबद्धता का सुफल ही माना जाना चाहिए कि वे इस समृद्ध, सफल समाज की विसंगतियों को भी देखने और बताने से नहीं चूके हैं.

इस कृति में अमरीका के भौतिक पक्ष की अपेक्षा उसके मानवीय पक्ष को अधिक प्रमुखता दी गई है. और इसी के साथ, जो बात इस पुस्तक को इस तरह के अन्य रचनाकर्म से अलग तथा बेहतर सिद्ध करती है वह है रचनाकार की साहित्यिकता. अपने सामान्य वर्णनों में भी डॉ अग्रवाल का साहित्यिक स्पर्श, और स्थान-स्थान पर साहित्यकारों और साहित्य के सन्दर्भ इस पुस्तक को एक दुर्लभ गरिमा प्रदान करते हैं.

डॉ अग्रवाल के पास जो सहज प्रवाहमयी भाषा है वह इस पुस्तक को ऐसी पठनीयता प्रदान करती है जो इधर के बोझिल साहित्यिक लेखन के घटाटोप में विरल हो चली है.

.....

आंखन देखी

(अमरीका मेरी निगाहों से)

दुर्गाप्रसाद अग्रवाल

भूमिका

यार ! सच तो यह है....

हिन्दी में जो विधाएं अपेक्षाकृत कम समृद्ध हैं उनमें से एक है यात्रा-वृत्तांत. बावजूद इस बात के कि पिछले कुछ वर्षों में अनेक कारणों से लोगों का देश-विदेश भ्रमण बढ़ा है, हिन्दी में इस विधा में उतना नहीं लिखा गया. कम से कम मुझे तो इस प्रतीति से खुशी नहीं होती कि चालीसेक साल पहले की 'चीड़ों पर चांदनी' (निर्मल वर्मा), 'अरे यायावर रहेगा याद', 'एक बूंद सहसा उछली' (दोनों- अज्ञेय), 'आखिरी चट्टान तक' (मोहन राकेश) और 'हरी घाटी' (रघुवंश) ही अब तक भी इस विधा की शीर्षस्थ कृतियां हैं. ऐसा नहीं है कि इस बीच कुछ भी नहीं लिखा गया है. लोगों ने पारिवारिक अथवा महिला पत्रिकाओं के उपयुक्त यात्रा-वृत्तांत खूब लिखे, जिनकी अपनी उपादेयता है. कृष्णनाथ के यात्रा वृत्तांतों का अपना एक अलग स्वाद रहा, तो अमृतलाल वेगड़ ने अपने लेखों से अपने परिवेश को अमरत्व प्रदान किया. मंगलेश डबराल ने आयोवा के संस्मरण (एक बार आयोवा) लिख कर बुद्धिजीवी पाठक को तृप्त किया. इस सूची में और भी बहुत कुछ जोड़ा जा सकता है. बावजूद इसके, दुखद स्थिति यह है कि हिन्दी में यात्रा वृत्तांत विधा समृद्ध नहीं है. बकौल ललित सुरजन (समय की साखी पुस्तक में) "एक दर्जन पुस्तकें हैं. उनका ही नाम बार-बार लेते रहिये." इन दर्जन भर पुस्तकों में देशी और विदेशी दोनों यात्राओं के वृत्तांत शरीक हैं. मुझे लगता है कि संचार माध्यमों के द्रुत विकास के कारण परदेस भी अब उतना परदेस नहीं रह गया है. हर दूसरी फिल्म और चौथे सीरियल की लोकेशन कोई न कोई परदेस ही है. परिणाम यह कि आप चाहे बंगलूर में रहने वाले अमीर हों या छिन्दवाड़ा में रहने वाले किसान, परदेस अब आपके लिए बहुत अनजाना नहीं रह गया है.

शायद यह भी एक कारण है कि लोग अब पहले की तरह उत्साह से यात्रा-वृत्तांत नहीं लिखते. परदेस की चकाचौंध में देश तो वैसे ही नेपथ्य में धकेला जा रहा है - खास तौर पर संचार माध्यमों में.

लेकिन क्या यात्रा वृत्तांत महज़ यह बखान होता है कि अमरीका में ऊंची-ऊंची इमारते हैं, या लंदन में एक ब्रिज है, या चीन की दीवार बहुत विशाल है या.. ये सारी जानकारियां और इनसे भी बहुत अधिक तो आसानी से वैसे ही सुलभ हैं. जब पहली बार अमरीका आ रहा था और मित्रों ने कहा कि आप भी कुछ अवश्य लिखना, तो मेरे मन में भी यही था कि एक-डेढ़ महीना अमरीका में रह कर तो मैं भी ऐसा ही कुछ लिख सकूंगा. और यह लिखने से तो बेहतर है कि नहीं ही लिखा जाए. सो नहीं लिखा.

फिर दूसरी बार अमरीका आने का संयोग बना. कारण शुद्ध निजी-पारिवारिक था. बेटे चारु का प्रसव. इसी के साथ खूब घूमे-फिरे, मौज़-मज़ा किया. और क्या? चल खुसरो घर आपने..

लेकिन ऐसा हो नहीं पाया. यहां रहते-रहते, घूमते-फिरते, बेटे-दामाद के मित्र-परिवारों से मिलते-जुलते कुछ चीज़ें अनायास ही मन में आकार लेने लगीं. इस तरह जिस अमरीका को हम देख रहे थे वह खूब देख-पढ़-लिख कर भी मेरे लिए अब तक अनजाना ही था. शायद औरों के लिए भी होगा. और, बिना किसी योजना तथा इरादे के एक दिन एक लेख कागज़ पर उतर आया. तटस्थ होकर पढ़ा तो लगा कि क्या हर्ज़ है अगर ऐसी ही कुछ बातें और लिख ली जाएं! इसी बीच एक मित्र दंपती घर आए, चारु ने उनसे मेरे लिखे की चर्चा की, उन्होंने आग्रह किया तो मुझे पढ़कर सुनाना भी पड़ा. उनकी प्रतिक्रिया ने मेरा उत्साह काफी बढ़ाया. उन्होंने कहा कि यहां जो भी आता है, अमरीका की बुराई ही देखता-करता है, जबकि आपने इसका उजला तथा सकारात्मक पक्ष देखा-लिखा है. इससे मुझे एक बात याद आ गई. अपनी पहली यात्रा के बाद जब भारत लौटा था तो एक पुराने विद्यार्थी से पत्राचार में बहस-सी हो गई थी. उसने व्यंग्य में लिखा था कि मैं भौतिकता, विलासिता, नग्नता, अक्षीलता वगैरह के देश की सैर कर आया हूं, और मैंने उसे जवाब में लिखा कि यहां सरे-आम कोई नग्नता, अक्षीलता वगैरह नहीं है. जो है वह भारत से तो कम ही है. इस बात से वह उखड़ गया और उसने बहुत नाराज़ होकर लिखा कि “आप तो हर चीज़ का सकारात्मक पक्ष ही देखते हैं”. हो सकता है, वाकई ऐसा ही हो. और या फिर यह हो कि कुछ चीज़ों की एक छवि हम मन में बना लेते हैं, उससे भिन्न कुछ भी हमें स्वीकार नहीं होता, जबकि सच केवल वही नहीं होता है. कई सन्दर्भों में मुझे ऐसा ही लगा. एक दिन यहां ब्रिटनी स्पीयर्स का एक एलबम सुन रहा था. ब्रिटनी नई पीढ़ी की

रोल मॉडल है और कुख्यात सेक्स सिम्बल है. एलबम में एक गीत था – ‘लकी’ (Lucky). गीत क्या था, करुण-कथा ही थी. कम से कम मेरी जानकारी में तो नहीं है कि हिन्दी के लोकप्रिय (पॉप?) गीतों में ऐसा सूक्ष्म मार्मिक गीत कोई हो. ब्रिटनी का देह पक्ष तो सब देखते हैं (और देख कर, आनन्दित होकर, उसकी आलोचना भी करते हैं) पर यह प्रशंसनीय, महत्वपूर्ण, सम्वेदनपूर्ण पक्ष तो अनदेखा ही रह जाता है. मुझे यह भी याद आया कि अपने प्रगतिशील रुझान और ऐसी ही संगत की वजह से मैं भी अमरीका विरोध और निन्दा को ही ओढ़ता-बिछाता रहा हूँ, लेकिन यहां आकर मुझे उससे अलग लग रहा है. यह भी याद आया कि मेरे एक घनघोर प्रगतिशील लेखक मित्र भी मेरी ही तरह पारिवारिक कारण से दो-एक महीने के लिए अमरीका आए थे और एक दिन मुझसे कह रहे थे कि “यार दुर्गा बाबू, हम लोग इनकी चाहे जितनी निन्दा-आलोचना करें, सच तो यह है कि.... ” और वही हाल मेरा भी हो रहा था.

यानि जो छवि मन में बना रखी थी, जो पढ़ते रहे थे वह एक तरफ और जो देख रहे थे वह उससे काफी अलग. इसी से याद आ गए अपने कबीर दास. वो क्या कहा था उन्होंने – “तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखन देखी”. तो क्या हर्ज है, आंखन देखी को लिख ही दिया जाए?

और इसीलिए यह किताब.

लेकिन यह किताब पारम्परिक अर्थ में यात्रा वृत्तांत नहीं है. संस्मरण भी नहीं है. कुल मिलाकर तो यह 'अमरीका जैसा मैंने देखा' टाइप कुछ है. वैसे भी पाठक तो किताब पढ़ता है, विधा नहीं. विधा का सवाल तो साहित्य के पेशेवर आलोचकों का है. किताब में व्यक्तिगत चर्चा काफी है. उसे निकाल भी सकता था. पर तब जो किताब बनती वह नीरस और निर्व्यक्तिक होती. मुझे लगा कि भले ही मेरे परिवार और मेरे जीवन में आपकी कोई दिलचस्पी न हो, उसके जिक्र के साथ अमरीका के बारे में पढ़ना आपको ज़्यादा अच्छा लगेगा.

यह किताब अमरीका की राजनीति का समर्थन नहीं है. पूंजीवाद से मेरी असहमति अब भी बरकरार है. इस किताब में बड़े और सैद्धांतिक सवालों को उठाने का कोई प्रयास नहीं है. सोचा समझा प्रयास अमरीका की प्रशंसा या उसके बचाव का भी नहीं है. बल्कि, इस किताब को तैयार करते हुए, जिसमें कि अमरीका के नागरिक जीवन और वहां के आम नागरिक की उन्मुक्त प्रशंसा है, मेरे मन को यह प्रश्न कुछ ज़्यादा ही बेचैन करता रहा है कि जिस देश के नागरिक इतने अच्छे हैं उस देश का निज़ाम इतना क्रूर, मानवता विरोधी

क्यों है? क्या जनता और शासन में कोई अंतःसम्बंध नहीं होता? सारी दुनिया में चौधराहट, हिंसा, रक्तपात, शोषण - यही तो करता रहा है अमरीकी शासन! बहुत कम अवसर आते हैं जब कोई अमरीका की भूमिका की सराहना कर पाता है. तो, अमरीका का यह पक्ष मेरी स्मृति में बराबर रहा है, लेकिन इसके बावजूद वहां का आम जीवन, वहां का आम नागरिक मुझे अच्छा लगा. और यही मैंने लिख दिया. मैं कोई निश्चित लाइन लेकर नहीं चला हूं. इसलिए इस किताब में कई जगह विरोधाभास भी महसूस होगा. लेकिन राजनीतिक रूप से जिस अमरीका की सर्वत्र आलोचना की जाती है, उसी अमरीका के आम लोगों के इस वृत्तांत से हो सकता है कुछ लोगों को चीजों को दूसरे पहलू से देखने में मदद मिले. अगर ज़रा भी ऐसा हो सका, मैं अपने प्रयास को सफल मानूंगा.

इस किताब के सारे अध्याय अमरीका में रहते हुए ही लिखे गए हैं. इसीलिए अमरीका के लिए 'यहां' और भारत के लिए 'वहां' का प्रयोग है. अब जब भारत पहुंचकर यह किताब अपने पाठकों को सौंपने की तैयारी कर रहा हूं, मुझे अमरीका के उन सारे मित्र परिवारों की याद आ रही है जिनके कारण वे सारे अनुभव जुट सके जो इस किताब में हैं. सबका तो नामोल्लेख भी सम्भव नहीं है, पर कुछ का जिक्र करने से खुद को रोक नहीं पा रहा हूं. रजनीश (उर्फ राज) और दीपिका हमारे बहुत नज़दीक रहे हैं. राज की बहिन नयनतारा भी. दीपिका के माता-पिता उषाजी व राकेश जी भी. राज की चाचीजी, नलिनी व सुमित भी. इनसे खूब मिलना-जुलना तथा विमर्श होता रहा. अपने डॉक्टर मित्र दंपती पंकज और आरती की चर्चा एकाधिक स्थानों पर की है. इनसे मुझे यहां के जीवन और सवालियों को समझने में बहुत मदद मिली. पंकज वेल इंफॉर्मर्ड हैं और चीजों को बहुत गहन, विश्लेषणात्मक तथा सुलझे-सकारात्मक नज़रिए से देखते हैं. चारु-मुकेश के असंख्य मि - नरेश-अंशु, अभिजित-दीपाली, मनोज-आशिता, सुनील-राधू, अजय-मोना, सुधा-सूरज, मुकेश शाही से हुई अनगिनत चर्चाओं ने इस किताब के लिए खाद-पानी का काम किया है.

और जिस बात को टालता रहा हूं, अब वह.

चारु-मुकेश. कहना भी चाह रहा हूं, संकोच भी है. अपने बच्चों के बारे में बात करना आसान नहीं होता. चारु तो शुरू से ही मेरे लिखे की पाठक और बेबाक समीक्षक रही हैं. अब चारु-मुकेश कहना उचित लग रहा है. इन दोनों की ही प्रतिक्रियाओं, सुझावों और सूचनाओं ने मुझे इस किताब को पूरा करने में बहुत मदद दी है. मुकेश मेरे कम्प्यूटर गुरु भी बन गये. इनके मार्गदर्शन में ही मैं कम्प्यूटर पर इस किताब की पाण्डुलिपि तैयार कर सका. इन दोनों की सहायता से मैं इण्टरनेट का खूब उपयोग कर सका. इन दोनों के ही कारण मेरे लिए अमरीका की लाइब्रेरी का उपयोग भी सम्भव हुआ (लाइब्रेरी

की विस्तृत चर्चा एक लेख में है.) अमरीका की दोनों यात्राएं तो इनके कारण हुई ही. इसलिए इस पुस्तक के मूल में तो ये ही हैं. अपने बच्चों के बारे में इससे ज़्यादा नहीं कहा जाना चाहिये न?

पत्नी विमला दोनों ही यात्राओं में साथ थीं. पूरी जीवन यात्रा की ही साथिन हैं वे. इस पुस्तक में जो कुछ लिखा है उस सबकी चर्चा उनसे निरंतर होती रही है. एक तरह से तो यह किताब हम दोनों का समवेत सृजन है. इसलिए यह कहना गैर-ज़रूरी है कि इस किताब के लिखने में भी उनका भरपूर सहयोग रहा है. पुत्र विश्वास और पुत्रवधु सीमा ने भी इस पुस्तक के अनेक अध्यायों को पढ़कर अपने सुझाव दिये हैं. उनका आभार तो क्या मानूं?

स्वाभाविक ही था कि भारत लौटकर अपनी यह पाण्डुलिपि अपने मित्रों को दिखाता. पिछले कई वर्षों से यह हो रहा है कि जब भी कुछ लिखता हूं, सबसे पहले उसकी चर्चा अपने मित्र, हिन्दी के प्रतिभाशाली आलोचक डॉ माधव हाड़ा से अवश्य करता हूं. वे भी प्रायः ऐसा ही करते हैं. इतनी समझ हममें परस्पर विकसित हो गई है कि खुल कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर देते हैं. बिना यह सोचे कि यह प्रशंसा है अथवा आलोचना. यह मानते हुए कि अगर आलोचना भी है तो इसलिए कि जो लिखा है उसे बेहतर बनाया जा सके. यह पाण्डुलिपि भी सबसे पहले उन्हीं ने पढ़ी है. उनके अनेक सुझावों से यह पुस्तक बेहतर हो पाई है. उन्हीं के सुयोग्य शिष्य, युवा और उत्साही प्राध्यापक डॉ पल्लव ने भी इस पाण्डुलिपि को बेहतर बनाने के लिए अनेक सुझाव दिये. अपने अग्रज डॉ मनोहर प्रभाकर, 'समय माजरा' के सम्पादक और सुपरिचित कथाकार डॉ हेतु भारद्वाज, सुपरिचित व्यंग्यकार डॉ यश गोयल, सुधी मित्र विमल जोशी, नाबार्ड के वरिष्ठ प्रबंधक श्री जी आर केजरीवाल, युवा मित्र यशवंत गहलोत, हमारे निकटस्थ श्री आनन्द कुमार गर्ग, ने भी प्रकाशन पूर्व ही इस पुस्तक को पढ़ कर अनेक सुझाव प्रदान कर मुझे उपकृत किया है.

इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करते समय मेरे सामने एक बड़ी उलझन इस देश (संयुक्त राज्य अमरीका) के नाम की नागरी वर्तनी को लेकर रही है. अंग्रेज़ी वर्तनी (America) के अनुरूप उपयुक्त था कि मैं 'अमेरिका' लिखता. प्रारम्भ में लिखा भी. लेकिन कुछ संशय होने पर जब ध्यान दिया तो पाया कि हिन्दी में इसे कई तरह से लिखा जाता है. अमरीका, अमेरीका, और अमेरिका. बीबीसी हिन्दी सेवा वाले इसे 'अमरीका' लिखते हैं. अमरीका की सुपरिचित प्रसारण संस्था VOA (Voice of America) को लिख कर पूछा तो वहां से उद्धोषिका रश्मि शुक्ला ने भी इसी वर्तनी के पक्ष में अपनी राय दी. मज़े की बात

यह कि इस पुस्तक के मेरे लेख जहां भी छपे, विद्वान सम्पादकगण ने मेरे लिखे 'अमरीका' को प्रायः 'अमेरिका' में तब्दील कर ही छापा. मैं इस पुस्तक में 'अमरीका' ही लिख रहा हूं.

इस पुस्तक के अनेक लेख जनसत्ता, मधुमती, समय माजरा, समयांतर, अनौपचारिका, लोक शिक्षक आदि में छप कर पाठकों तक पहुंच चुके हैं. इनके सम्पादकों के प्रति आभार.

तो जैसी भी है, किताब आपके हाथों में है.

कहना अनावश्यक है कि आपकी प्रतिक्रिया की मुझे प्रतीक्षा रहेगी.

1 जनवरी 2006

-- दुर्गाप्रसाद अग्रवाल

परदेस में निकला चांद

राही मासूम रजा की पंक्तियां हैं : "हम तो हैं परदेस में, देस में निकला होगा चांद." जब आप देश में होते हैं तो आपका एक बड़ा सपना होता है कि विदेश जाएं, और जब विदेश पहुंच जाते हैं तो अपना देश कुछ ज़्यादा ही याद आने लगता है. देश की हर बात याद आने लगती है. पिछले दिनों हिन्दी की सुपरिचित लेखिका मृदुला गर्ग अमरीका आई तो उन्हें यहां की बेहद-बेहद सफाई के बीच भारत की धूल-मिट्टी की याद बेचैन कर गई. अमरीका में, या किसी भी देश में रह रहे भारतीय भारतवासी भारतीयों से ज़्यादा भारतीय हो जाते हैं. परदेस में हो रहा हर भारतीय आयोजन उन्हें अपने देश के थोड़ा निकट ले जाने वाला अवसर बन जाता है.

ऐसा ही कुछ अनुभव हुआ मुझे सिएटल में 'जगजीत सिंह नाइट' में जाकर. अब यह कहना तो कोई माने नहीं रखता कि जगजीत मेरे पसन्दीदा गायक हैं. भारत में शायद ही कोई हो जिसे जगजीत की गायकी पसन्द न हो. इस मुकाम तक पहुंचने में जगजीत को कम से कम चालीस साल लगे हैं. चार दशकों की कड़ी मेहनत और इस दौरान अर्जित अनुभव उनकी गायकी और स्टेज प्रस्तुतियों में बहुत साफ परिलक्षित होते हैं.

जब हमारा अमरीका आने का कार्यक्रम बन रहा था तभी अमरीका में जगजीत नाइट का प्रचार शुरू हो गया था. बेटी चारु को जगजीत के प्रति हम दोनों की दीवानगी का पता है, इसलिये उसने हमारे लिये दो टिकिट तुरंत ही खरीद कर रख लिये. उसके प्रसव की सम्भावित तिथि भी वही थी जो इस कंसर्ट की थी, इसलिये यह तो तय ही था कि बेटी-दामाद इस शाम का लुत्फ नहीं ले पाएंगे.

अमरीका आने वाले हर भारतीय की तरह हम भी इस मर्ज के शिकार हैं कि हर डॉलरी अमरीकी मूल्य को भारतीय मुद्रा में तब्दील कर भारत की कीमत से तुलना कर, जैसी भी स्थिति हो, दुःखी, चकित, गर्वित होते हैं. इसलिये जब विमला के कई बार और कई तरह से पूछने के बाद चारु ने बताया कि इस शो के एक टिकिट का मोल साठ डॉलर है, तो हमने मन ही मन सुना- तीन हजार रुपये, और किंचित दुखी हुए. कुछ माह पहले ही जगजीत को जयपुर में पांच सौ रुपये का 'महंगा' टिकिट खरीद कर सुन चुके थे. पर यह अमरीका है !

14 मई को चारु ने बेटी को जन्म दिया. हम लोग अस्पताल में ही थे, पर जाने कब उसने अपने साथी नरेश जैन से गुपचुप बातकर यह व्यवस्था कर दी कि नरेश इस साढ़े सात बजे वाले शो के लिये हमें लेने छः बजे अस्पताल आ पहुंचे. अब यहीं यह भी चर्चा कर दूं कि दुनिया कितनी छोटी और गोल है ! नरेश के दादाजी से सिरोही में मेरी अच्छी मित्रता रही है. मुकेश के स्वर्गीय पिताजी का भी नरेश के इस परिवार से गहरा अपनापा था. फिर संयोग यह बना कि राजस्थान की पूर्व-इंजीनियरिंग परीक्षा (पी ई टी) में उत्तीर्ण होने पर नरेश और चारु एक साथ ही सिरोही से उदयपुर काउंसिलिंग के लिये गये. पढे अवश्य अलग-अलग कॉलेजों में. और अब नरेश, मुकेश और चारु तीनों ही माइक्रोसॉफ्ट में काम करते हुए भारत का नाम रोशन कर रहे हैं. एक और संयोग यह भी कि नरेश का परिवार जयपुर में रहता है, हम भी. तो, इस नरेश के साथ अपने अस्पताल से कोई पचास किलोमीटर दूर मूर थिएटर के लिये रवाना हुए.

मूर थिएटर डाउनटाउन सिण्टल में स्थित है. जब हम पहुंचे तो घड़ी ठीक साढ़े सात बजा रही थी. हॉल के बाहर का दृश्य देखकर भ्रम हुआ कि कहीं हम भारत में ही तो नहीं हैं. इतने सारे भारतीय एक साथ! ये भारत में इतने भारतीय नहीं होते. यहां अपने पहनावे में ये भारत की तुलना में ज्यादा भारतीय थे. वहां ये लोग भले ही जीन्स वगैरह में होते, यहां ज्यादातर लोग पारम्परिक भारतीय वेशभूषा, यानि साड़ी, सलवार सूट, कुर्ता पाजामा वगैरह में थे.

जो टिकिट हमारे पास थे उनमें बाकायदा यह अंकित था कि हमें आयल (Aisle) 3 से प्रवेश करना है और S कतार में हमारी सीट नम्बर 2 व 3 है. पर वहां तक पहुंचने के लिये खासी मशक्कत करनी पडी. थिएटर की लॉबी में इतनी भीड थी कि आगे बढ़ पाना ही मुश्किल था. लोगों के हाथों में प्लेटें थीं, प्लेटों में समोसे, छोले, टिक्की वगैरह और चारों तरफ थी भारतीय पकवानों की जानी पहचानी खुशबू.

हाल-चाल पूछे जा रहे थे, ठहाके लग रहे थे, चटखारे लिये जा रहे थे. ऐसा भारतपन भला रोज-रोज कहां नसीब होता है! इस सात समुद्र पार के विलायत में बडी इंतजार के बाद यह शाम उतरी थी और इसने इस मूर थिएटर को एक मिनी हिन्दुस्तान में तब्दील कर दिया था. इस बहुत इन्फार्मल एट्टीट्यूड वाले देश में जैसा देस वैसा भेस बनाकर रह रहे भारतीय आज अपने पूरे रंग में थे. महिलाओं ने तो मानो अपने गहनों-कपडों की नुमाइश ही लगा दी थी.

हम जैसे-तैसे अपनी सीटों तक पहुंचे. थिएटर कुछ पुराना-सा था, ज़्यादा ही भव्य. वरना यहां के थिएटर (भारत की तुलना में) बहुत सादे होते हैं. जगजीत मंच पर आ चुके थे. प्रारम्भिक औपचारिकताएं भी शायद पूरी की जा चुकी थीं. बहुत हल्के-फुल्के अन्दाज़ में उन्होंने अपने साथी संगतकारों का परिचय कराया. हर कलाकार के लिये तालियां और सीटियां बजती रहीं, और इस सबके बीच ही जगजीत ने गाना शुरू कर दिया.

जगजीत की गायकी का क्या कहना ! उसके जादू का असर न हो, यह मुमकिन ही नहीं. वे एक के बाद एक गज़ल सुनाते गये. कब डेढ़ घण्टा बीत गया, पता ही नहीं चला. पंद्रह-बीस मिनिट का मध्यांतर हुआ, लोग फिर खाने और मिलने-जुलने पर दूट पड़े. फिर काफी देर तक गाने के बीच लोगों का आना-जाना चलता रहा. जगजीत ने फिर डेढ़ घण्टा गाया, और अचानक शो समाप्त. जगजीत अक्सर ऐसा ही करते हैं.

यह कहने की कोई ज़रूरत नहीं कि जगजीत ने अच्छा गाया. यह भी कहने की ज़रूरत नहीं कि उन्होंने श्रोताओं के मूड के अनुरूप गाया. यहां जो श्रोता थे वे सब बहुत गम्भीर श्रोता नहीं थे. जगजीत खुद एम टीवी पर अपने एक इंटरव्यू में कह चुके हैं कि उनके कंसर्ट में कुछ श्रोता ऐसे होते हैं जिनका संगीत से कोई वास्ता नहीं होता. वे महज़ इसलिये होते हैं कि अगले दिन यह दिखावा कर सकें कि वे भी कल यहां थे! कुछ श्रोता प्रारम्भ से ही काफी 'उच्च अवस्था' को प्राप्त थे. थिएटर में भी एक बार (Bar) था. जो घर से उच्च अवस्था को प्राप्त होकर नहीं आये थे, उनमें से अनेक यहां उस अवस्था को प्राप्त हो गये. और जब आप उस महान अवस्था को प्राप्त हो चुके हों तो आपके लिये

'आहिस्ता-आहिस्ता' और 'मिट्टी दा बाबा' में कोई फर्क न रह जाये, यह स्वाभाविक ही है. 'मिट्टी दा बाबा' जगजीत की बहुत प्रिय रचना है. वे गाते भी इसे पूरे दर्द के साथ हैं. शायद उन्हें अपना विवेक ही याद आ जाता हो, इसे गाते वक्त. इसलिये जब इस गीत पर भी लोग सीटियां, तालियां और चुटकियां बजाने लगे तो जगजीत यह याद दिलाये बगैर नहीं रह सके कि यह 'उस तरह' का गीत नहीं है! मेरी अगली कतार में बैठे एक सज्जन हर गीत के खत्म होते न होते 'दरबारी' की फरमाईश कर रहे थे. बा-आवाज़े-बुलन्द. मजे की बात यह कि जब जगजीत ने वाकई दरबारी गाना शुरू किया, तब भी वे मांग कर रहे थे - दरबारी! मेरे ठीक आगे एक युवक हर गीत पर जिस तरह अपना हाथ उठाकर अपने आह्लाद का प्रदर्शन कर रहा था उससे शुरू-शुरू में तो मुझे लगा कि यही उसका फेवरिट नगमा होगा, पर पंद्रह-बीस गीतों पर उसकी एक-सी प्रतिक्रिया देखकर मुझे उसकी जवानी पर ही ज़्यादा लाड़ आया. और, जवानी में समझ होती ही कहां है? मेरी दांयी तरफ से एक बुजुर्ग सज्जन कभी-कभी 'गालिब' की गुहार लगा देते थे. उनकी आवाज़ तो मंच तक नहीं पहुंची पर जगजीत ने उनकी शाम सार्थक जरूर कर दी. जगजीत गालिब को गा रहे थे, मैं उन सज्जन को देख फिराक को स्मरण कर रहा था-

आए थे हंसते खेलते मैखाने में फिराक
जब पी चुके शराब, संजीदा हो गये !

जगजीत बहुत हल्के मूड में थे. श्रोताओं से चुहल करते जा रहे थे. साउंड सिस्टम पर खफा होने का उनका चिर-परिचित अन्दाज़ यहां भी बरकरार था. एक शो-मैन के रूप में वे मंज चुके हैं. और इस मंज जाने की अपनी सीमाएं होती हैं जो यहां साफ दृष्टिगोचर थी. जगजीत ने वे ही सारी चीज़ें सुनाईं जो वे हर कंसर्ट में सुनाते हैं. नई और गम्भीर चीज़ें सुनाने की रिस्क क्यों ली जाये ? एक मुकाम पर आकर शीर्ष पर टिके रहने की चाह आपकी एक ऐसी मजबूरी बन जाती है जो कुछ भी नया और बेहतर करने की आपकी प्रयोगशीलता को बाधित करती है. जगजीत ने अच्छा गाया, पर वे बेहतर गा सकते थे.

जो लोग इस कंसर्ट में आये, उनमें जगजीत की गायकी के प्रति अनुराग से ज़्यादा अपनी धरती की महक की ललक थी. तीन-चार घण्टों के लिये एक हिन्दुस्तान ही बन गया था वहां. अगर यह कहना अशिष्टतापूर्ण न लगे तो कहूं कि वही अस्तव्यस्तता, वही धक्का-मुक्की, वही गर्मजोशी, वही अपनापा, वही सब कुछ जो अपने देश में होता है !

दरअसल, यह भी परदेश में रहने की एक भावनात्मक ज़रूरत होती है. आप घर वालों से बातें कर सकते हैं, उनके समाचार पा सकते हैं, घर में हिन्दुस्तानी खाना खा सकते हैं पर आपके चारों तरफ तो अमरीका ही होता है ना , जो चाहे कितना ही अच्छा क्यों ना हो, अपना तो नहीं होता. इसी 'अपने' की तलाश, अपनी धरती का मोह भारतीयों को इस तरह के आयोजनों में खींच लाता है. यही कारण है कि यह शो बीस दिन पहले ही सोल्ड आउट (Sold out) हो चुका था. ऐसे में, किसने क्या गाया, और किसने क्या सुना, इसका कोई खास मतलब नहीं रह जाता. असल बात यह थी कि जगजीत के इस कंसर्ट के बहाने यहां इस सिएटल शहर में भी चन्द घण्टों के लिये वही चांद निकल आया था जिसे याद कर रही मासूम रज़ा उदास हुए थे.

इस चांद के तिलिस्म से बाहर निकले तो रात के साढे ग्यारह बज रहे थे. काफी सर्द रात थी पर मूर थिएटर के उस इलाके में हस्ब-मामूल चकाचौंध बरकरार थी. बहुमंजिला इमारतों, शानदार व्यावसायिक प्रतिष्ठानों और तेज़ भगती कारों की हेडलाइट्स की चौंध. बल्कि इससे भी कुछ ज़्यादा. सड़क पर बिखरी भारतीय सुन्दरियों के आभूषणों की, उनके चमचमाते झिलमिलाते वस्त्रों की और इन सबसे ज़्यादा अभी-अभी 'भारत से लौटकर आये' उनके प्रफुल्लित चेहरों की उल्लासपूर्ण आभा इस चमक को और बढ़ा रही थी.

इस चकाचौंध के घेरे से बाहर निकल, कुछ दूर चले तो हमें और दिनों की बनिस्बत अमरीकी आकाश आज कुछ कम चमकदार लगा.

निकले हुए चांद को हम पीछे जो छोड़ आये थे !

हैप्पी बर्थ डे टू यू

चारु ने सुबह ही कह दिया था कि शाम को हमें दीपिका के यहां जाना है.

दीपिका और रजनीश (राज) इन लोगों के नज़दीकी दोस्तों में हैं. नज़दीकी कई तरह की है. घर एकदम पास है. पैदल कोई 3-4 मिनिट की दूरी पर. मुकेश और राज दोनों ही माइक्रोसॉफ्ट में हैं. दोनों, बल्कि चारों बेहद मिलनसार और खुशमिज़ाज़ हैं. पिछली बार, डेढेक साल पहले जब हम लोग यहां आए थे, इन परिवारों में दोस्ती नहीं थी. लेकिन इस

बीच गंगा में बहुत सारा पानी बह चुका है. दोनों परिवार कई बार साथ बाहर जा चुके हैं, और अगर एक घर में कोई खास डिश बनती है तो दूसरे घर में उसके स्वाद की तारीफ होती ही है. दोनों परिवारों की नज़दीकी का एक आयाम यह भी है कि चारु और दीपिका की गर्भावस्था एक साथ आगे बढ़ रही है. दोनों की सम्भावित प्रसव तिथि एक ही है. अस्पताल एक है, डॉक्टर एक है. और जैसे इतना ही काफी न हो, गर्भकाल में मदद के लिये चारु के मां-बाप(यानि हम) आये हुए हैं तो दीपिका के भी मां-बाप आये हुए हैं. दोनों परिवार अग्रवाल हैं.

आज दीपिका का जन्म दिन है. प्रसवकाल निकट होने से यह संशय तो बना ही हुआ था कि शाम को दीपिका (या चारु, या दोनों) घर पर ही होंगी या प्रसूतिगृह में, पर फिर भी आयोजन कर ही लिया गया था.

मुकेश भी आज दफ्तर से जल्दी आ गये. सात बजे. रोज़ साढ़े आठ-नौ बजे तक आते हैं. जल्दी से नहा-धोकर तरोताज़ा हुए और हम चले राज के घर. पहले एक चक्कर निकट की दुकान का. चारु दीपिका के लिये कुछ लेना चाहती थी. राज ने साढ़े सात बजे बुला रखा था. इन दिनों अमरीका में सूर्यास्त बहुत देर से होता है - रात साढ़े नौ बजे के आस पास. साढ़े सात बजे तो ऐसा लग रहा था जैसा भारत में शाम चार बजे लगा करता है. पूरा, चमकता, उजास भरा दिन. जल्दी करते-करते भी हम थोड़ा लेट हो ही गये. राज के यहां पहुंचे तो घड़ी आठ बजा रही थी. बहुत बड़ा आयोजन नहीं था. कोई दस-बारह लोग थे. सभी सहकर्मी. सभी युवा. सभी भारतीय. यहां भारतीयों व अमरीकियों के सम्बंध काम-काज तक ही सीमित हैं. घर आने-जाने की आत्मीयता लगभग नहीं है. भारतीयों की अपनी एक अलग ही दुनिया है. सिएटल जैसे शहर में इस दुनिया का बना रहना सहज और सम्भव है भी. अकेले माइक्रोसॉफ्ट में ही लगभग चार-पांच हजार भारतीय हैं. कहीं भी जाएं - शॉपिंग माल में, पार्क में, रेस्टोरेण्ट में, आपको साड़ी,सलवार, चूड़ी ,बिन्दी के दर्शन हो ही जाएंगे.

तो हम भी जूते उतार कर भीतर पहुंचे. बता दूं कि यहां जूते अनिवार्यतः बाहर उतारे जाते हैं. सभी आ चुके थे. दो युवा माताएं और उनके पतिगण - अपने अपने शिशुओं में मगन. एक की संतान पिछली जून में हुई थी, एक की जुलाई में. चर्चा हुई कि मई में मां बनने वाली दो युवतियां (चारु व दीपिका) यहां हैं. इस तरह मई,जून,जुलाई,अगस्त में लगातार बर्थडे पार्टियां हुआ करेंगी. एक दोस्त इन लोगों की दो-तीन दिन बाद भारत से आने वाली हैं. उन्होंने अगस्त में शिशु को जन्म दिया था. उन्हें भी गिन लिया गया था. उनके पति पार्टी में थे. एक और दंपती थे. पत्नी गर्भवती थीं. दिखाई भी दे रहीं थी पर

उनका परिचय यह कहकर कराया गया कि वे प्रैग्नेण्ट हैं. यहां गर्भावस्था को गोपनीय नहीं माना जाता. उसके बारे में जितनी खुलकर और सहज भाव से उल्लासपूर्ण चर्चा होती है उसकी भारत में कल्पना भी नहीं की जा सकती. इस खुलेपन का एक बड़ा फायदा यह है कि स्त्रियां अपनी गर्भावस्था के बारे में, उसके कष्टों के बारे में और उन कष्टों से बचने के उपायों के बारे में सब कुछ जान जाती हैं. डॉक्टर भी बहुत खुलकर और विस्तार से बात करते हैं. नए माता-पिता के लिये बाकायदा सेमिनार्स/काउंसिलिंग सेशंस होते हैं और लोग पैसा खर्च कर उनका लाभ उठाते हैं. यह है जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण!

सभी से परिचय हुआ. रजनीश की बहन नयनतारा भी इसी सिएटल शहर में रहती हैं. वह भी आई हुई थी. दीपिका के माता-पिता और हम दोनों को छोड़कर शेष सभी आपस में बहुत अच्छी तरह घुले-मिले थे. पर असहज हम भी महसूस नहीं कर रहे थे. अमरीकी जीवन और आबो-हवा में कुछ ऐसी अनौपचारिक सहजता है कि आप प्रवाह से अछूते रह ही नहीं सकते. हंसी-मज़ाक के दौर पर दौर चल रहे थे. नयनतारा से कहा गया कि वह आजकल राज के यहां बहुत आती हैं. उसने भी मज़ाक का पूरा मज़ा लेते हुए जवाब दिया कि आजकल यहां अच्छे-अच्छे पकवान जो बनते हैं. इतना सुख कि न केवल खाओ, अगले दिन के लिये पैक करके भी ले जाओ.. मैं सोच रहा था, क्या भारत में इस तरह मज़ाक किया जा सकता है? और क्या यह भी बहुत स्वाभाविक होगा कि एक ही शहर में बहन-भाई अलग-अलग घरों में रहें? बड़े शहर की दूरियों और काम की व्यस्तताओं ने अस्वाभाविक को भी स्वाभाविक बना दिया है. जब भी फुरसत मिलती है, नयनतारा भाई के यहां आ जाती हैं. एमबीए किया है. किसी अच्छी कम्पनी में काम करती हैं. छोटी-सी, प्यारी-सी, गुडिया-सी लडकी. भारत में होती तो शायद मां कहीं अकेले जाने ही नहीं देती, लेकिन यहां सात समुद्र पार पूरे दमखम से शानदार ज़िन्दगी जी रही हैं. यह है आज की युवती.

यहां खाने की कुछ भिन्न परम्परा है. पहले अपेटाइज़र. पर भारत में इस से जो आशय होता है (सूप वगैरह) उससे थोड़ा अलग. यहां अपेटाइज़र का आशय खाद्य से होता है, बेशक उसके साथ पेय भी हो सकता है. हमें ब्रेड रोल और कांजी बड़ा दिया गया. यहां पेपर नैपकिन (जिसे ये लोग टिशू पेपर कहते हैं) का भरपूर उपयोग होता है. गिलास डिस्पोज़ेबल, पर इतने सुघड़ और सुन्दर कि चाहें तो अलमारी में सजा लें. टिशू भी कम गरिमापूर्ण नहीं.

हंसी-मज़ाक का दौर चल रहा था. हम फेमिली रूम में ही थे. फेमिली रूम यहां एक ऐसी जगह होती है जिसमें किचन भी शामिल होता है. ओपन किचन. किचन, एक बड़ी

टेबल, कुछ सोफे (जिन्हें ये लोग काउच बोलते हैं), कुछ कुर्सियां, स्टूल, टीवी, म्यूजिक सिस्टम; यानि जहां बैठकर आप गपशप करते हुए, अनौपचारिक व सहज रूप से खा-पी सकें. टेबल पर केक लगा दिया गया था. दीपिका ने (जिन्हें डॉक्टर के अनुमान के लिहाज़ से इस समय अस्पताल में होना चाहिये था) केक काटा. सबने तालियां बजाईं, 'हैप्पी बर्थ डे टू यू' गाया.

राज और मुकेश ने पूछा कि मैं ट्रिंक में क्या लेना पसन्द करूंगा. राज के यहां बहुत समृद्ध बार है. मेरी पसन्द व्हिस्की थी. राज ने टीचर्स व्हिस्की की बॉटल निकाली. राकेश जी और उषा जी -दीपिका के माता पिता- लखनऊ में रहते हैं. ये गुप्ता दंपती भी हमारी ही तरह दूसरी बार अमरीका आये हैं. हम लोग यहां के जीवन के बारे में अपने अनुभव बांटना शुरू करते हैं. यहां की सुव्यवस्था, यहां की सफाई, यहां का सुगम नागरिक जीवन, वगैरह. इन लोगों ने कल 'धूप' फिल्म देखी थी और इनसे ही उसकी डीवीडी लेकर आज दोपहर हमने भी देख डाली. मेरे जेहन पर 'धूप' का कथानक छाया हुआ था. भारत में शायद यह फिल्म रिलीज़ ही नहीं हो पाई है, हालांकि इसका संगीत काफी चला है. मैं तो इस फिल्म से अभिभूत था. गुप्ता जी भी. कहानी भारत में व्यास भ्रष्टाचार और निकम्मेपन से एक आदमी (ओम पुरी) की लड़ाई की है. इससे मुझे सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'लड़ाई' भी याद आती रही. हम दोनों यह चर्चा करते रहे कि क्यों भारत में ही ऐसा होता है, अमरीका में नहीं. यहां तो जिसे जो काम करना है, पूरे मन से करता है. भारत में तो जैसे वर्क कल्चर है ही नहीं. चर्चा हस्ब-मामूल सिस्टम पर आकर अटक जाती है. हम लोग अमरीका की, उसकी पूंजीवादी संस्कृति की, मनुष्य विरोधी आचरण की, सारी दुनिया पर अपनी चौधराहट लादने की खूब लानत मलामत करते हैं. पर इसी अमरीका का दूसरा पहलू भी है, यहां का साफ-सुथरा नागरिक जीवन. इसी को देखकर समझ में आता है कि क्यों अमरीका दुनिया के सबसे समृद्ध, शानदार और जीवंत देशों में गिना जाता है. हमारी चर्चा इससे फिसलकर आम जीवन पर आ जाती है. भारत में हम कपड़ों वगैरह की खूब चिंता करते हैं. यहां उनकी बिल्कुल भी चिंता नहीं की जाती. आप जो और जैसे चाहे पहन लें. निक्कर(घुटन्ना) और घिसा हुआ बनियान जैसा टी शर्ट पहन कर तो लोग नौकरी पर चले जाते हैं. इस आयोजन में भी कोई बना-ठना नहीं था. युवतियां भी नहीं. एक अपवाद दीपिका थीं. उन्हें होना भी था. पर वे भी उस तरह सजी-संवरी नहीं थीं जैसे अपने जन्म दिन पर भारत में होतीं. शेष सब तो नितांत काम चलाऊ कपड़ों में थे. अमरीका में कपड़ों का तो यह आलम है कि पिछली बार जब हम यहां आये तो मैं जो सूट टाई वगैरह लाया था, उन्हें उसी पैकड अवस्था में वापस ले गया. लगा कि सूट-टाई मैं अजूबा लगूंगा. यहां तो शॉर्ट, टी शर्ट, जींस यही चलता है. घर में

भी, दफ्तर में भी और पार्टी में भी. औपचारिक वेशभूषा तो बहुत ही कम अवसरों पर इस्तेमाल होती है.

हमारी गपशप के बीच ही पित्तजा भी आ गया. एक पेग खत्म हो गया, गुप्ता जी दूसरा बना लाये. उधर युवा समूह में (जिसमें श्रीमती गुप्ता और श्रीमती अग्रवाल भी थीं, बावजूद इसके कि उनका युवा होना सन्दिग्ध था) गपशप का उन्मुक्त दौर चल रहा था. स्त्रियों में सहज हो जाने का जन्मजात गुण होता ही है. आवाजों के टुकड़े हम तक भी आ रहे थे. दीपिका के पिता और मैं अपना अपना गिलास लेकर इस फेमिली रूम से सटे लिविंग रूम (जो हमारे ड्राइंग रूम के समकक्ष होता है) में जा बैठे. पूरी पार्टी में मदिरा प्रेमी हम दो ही थे. वहां से भी हमें इधर का सब कुछ दिखाई-सुनाई दे रहा था. बाद में घर आकर मैंने विमला से जाना कि सभी अपने-अपने बच्चों के जन्म का बिन्दास वर्णन कर रही थीं. विमला घर आकर भी 'हाय राम' मोड (Mode) में थी. यहां प्रसव के समय पति तो उपस्थित रहता ही है, अन्य परिवार जन भी रह सकते हैं. नयनतारा से कहा जा रहा था कि वह दीपिका के प्रसव की फोटोग्राफी करे और वह (बेचारी कुंवारी हिन्दुस्तानी लड़की) प्रसव का नाम सुनकर ही घबरा रही थी, और सब देवियां उसकी इस घबराहट का मजा ले रही थीं.

यहां कोई किसी से औपचारिकता नहीं बरतता. सब एक दूसरे को उसके नाम से पुकारते हैं. जी, साहब, बहनजी, भाभीजी का बोझ ये लोग भारत से यहां ढोकर नहीं लाये हैं. खाने पीने के मामले में कोई मनुहार नहीं है. यह बहुत आम है कि आप किसी के घर जाएं तो गृहस्वामी आपके खाना शुरू करने का इंतज़ार ही न करे. आपको खाना है, खाएं, न खाना है, न खाएं. अगर यह आस लगाई कि कोई दो बार आग्रह करेगा तभी खाएंगे, तो भूखे ही रह जाएंगे.

खाना खाकर झूठे बर्तन सिंक में साफ करना तथा डिश वाशर में लगाने के लिये तैयार कर देना यहां आम है. इससे गृह स्वामी/स्वामिनी को जो आसानी होती है, उसे देखकर ही समझा जा सकता है.

लोग एक एक करके विदा हो रहे थे. हम क्योंकि उनके विदा मार्ग में ही थे, सभी हमसे भी बाय-बाय करते जा रहे थे. ड्रिंक खत्म कर और पेट में स्वादिष्ट पित्तजा ठूस कर (मैं तो ज्यादा ही खा गया था!) हम लोग भीतर वाले लिविंग एरिया में आ गये. अब हम परिवारजन ही रह गये थे. राज-दीपिका, नयनतारा, मुकेश-चारु, और हम दोनों माता पिता युगल. थोड़ी देर सीक्वेंस खेला. पहली बार ही खेला पर मजा आया..

Thank You for previewing this eBook

You can read the full version of this eBook in different formats:

- HTML (Free /Available to everyone)
- PDF / TXT (Available to V.I.P. members. Free Standard members can access up to 5 PDF/TXT eBooks per month each month)
- Epub & Mobipocket (Exclusive to V.I.P. members)

To download this full book, simply select the format you desire below

